प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक परंपराओं में व्यवसाय और शिल्प

*डॉ. सोमेश कुमार सिंह

शोध सारांश

प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली मानव की सर्वांगीण विकास का सशक्त माध्यम थी। इस शिक्षा प्रणाली में ज्ञानोपार्जन के साथ जीविकोपार्जन का भी भाव निहित था हमारी शिक्षा व्यवस्था जहाँ मानव को अपने उच्च आदर्शों तक पहुँचने के लिए प्रोत्साहित करती थी वहीं तकनीकी कौशल के माध्यम से व्यक्ति को स्वावलंबी भी बनाती थी। हमारे गुरुकुल तथा आश्रमों में श्रेष्ठ मानव तथा दक्ष व्यक्तित्व निकलते थे। हमारी आश्रमों से निकले विद्यार्थी की पहचान उसके आश्रम से नहीं बल्कि आश्रम से प्राप्त विशेष गुणों से की जाती थी प्राचीन भारत को सोने की चिड़िया कहा जाता है इसे सोने की चिड़िया बनाने मे हमारे महान शिल्पकारों, व्यवसायीयो का योगदान था जिन्होंने अपने अथक परिश्रम से धनार्जन किया तथा देश को संपन्न बनाया।

सांकेतिक शब्द– प्राचीन भारत, गुरूकुल, आश्रम, शिक्षा, व्यवसाय, शिल्प, कौशल।

शिक्षा मानव जीवन की सर्वांगीण विकास का सशक्त माध्यम है। शिक्षा मानव को पूर्ण बनाती है । प्राचीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान के साथ साथ उसे सामर्थ्यवान बनाना भी था। हमारी प्राचीन शिक्षा प्रणाली विद्यार्थी के सामाजिक,राष्ट्रीय तथा आर्थिक जीवन जीवन मूल्यों के उन्नयन का कार्य करती थी। हमारी शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य मनुष्य में ज्ञान सदाचार तकनीकी कौशल का विकास करना होता था। यह शिक्षा प्रणाली ज्ञान के साथ सा जीविकोपार्जन के योग्य बनाती थी। हमारे गुरुकुल ,आश्रम अंकों के आधार पर व्यक्ति का मूल्यांकन नहीं करते थे बल्कि श्रेष्ठ कौशल के आधार पर उसका मूल्यांकन होता था। शिक्षा के मंदिर अर्थोपार्जन के केन्द्र नहीं थे वहाँ सिर्फ़ ज्ञान और कौशल की शिक्षा नि स्वार्थ भाव से दी जाती थी। हमारी शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानार्थ प्रवेश : सेवारत प्रस्थान था। यानि ज्ञान या सीखने के लिए प्रवेश तथा सीखें हुए ज्ञान से समाज सेवा। जो भी शिक्षालयों से प्राप्त होता था उसका उपयोग समाज हित के लिए किया जाता था। शिक्षा प्राप्ति से प्राप्त ज्ञान समाज के काम आता था शिक्षार्थी शिक्षालयों से ज्ञान प्राप्ति के बाद जब समाज में प्रवेश करते थे तो उनका उद्देश्य अर्थ अर्जन के साथ समाज सेवा भी होता था। भारतीय शिक्षा प्रणाली में ज्ञान के साथ साथ शिल्प तथा व्यावसायिक कौशल भी था। विद्यार्थी अपने जीविकोपार्जन के लिये राज्य पर निर्भर नहीं था। गुरुकुल में सीखें कौशल से वह आसानी से अपना जीवन उपार्जन कर सकता था। शिक्षा के साथ साथ कौशल विकास भारतीय शिक्षा प्रणाली की विशेषता थी। यह शिक्षा ज्ञानमय के साथ साथ अर्थमय भी थी।

प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था की समृद्धि का मूल कारण यहाँ की शिक्षा प्रणाली में मौलिक वह विशेषता थी जिसमें व्यक्ति को किसी विषय या क्षेत्र में महारत हासिल करनी होती थी। हमारी शिक्षा प्रणाली खर्चीली नहीं थी उसमें बहुत कम ख़र्चे में विद्यार्थियों को स्वावलंबी तथा रोज़गार मुखी बनाया जाता था। प्राचीन भारत सोने की चिड़िया कहा जाता था। इसी सोने की चिड़िया बनाने में हमारी शिक्षा व्यवस्था से निकलने वाले वे महान व्यक्तित्व जो अपने कौशल से बनायी वस्तुओं को बाज़ारों तक पहुँचाते थे तथा इन बाज़ारों के माध्यम से ये वस्तुएँ विश्व के

कोने कोने तक पहुँचती थी भारतीय शिल्प कौशल और व्यवसाय भारतीय अर्थव्यवस्था के मुख्य आधार थे। हमारी शिक्षा व्यवस्था के दो स्तर हुआ करती थे। प्रथम, शिक्षा के केंद्र पाठशालाएँ, गुरूकुल तथा आश्रम होते थे वहीं दूसरी तरफ़ व्यवहारिक तथा व्यवसायिक शिक्षा भी समाज में दी जाती थी। कौशल विकास की प्राचीन अवधारणा हमें सैंधव सभ्यता में दिखाई देती है। सिंधु सभ्यता के उत्खनन में हमें मुद्राएँ ,[1]ताबीज़,मूर्तियाँ, खिलौने गुड़िया ,आभूषण ,बर्तन प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुए हैं। इन्हें देखने से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय समाज में प्रारंभ से ही कौशल प्रबंधन की अवधारणा विकसित हो चुकी थी। प्राचीन भारतीय समाज अपने जीवन को उपार्जन के लिए कई तरह के शिल्प तथा व्यवसायों का विकास कर चुका था। प्राचीन सैंधव के कुशल व्यवसाइयों ने चिकनी मिट्टी, साधारण मिट्टी काली मिट्टी, चीनी मिट्टी , चूना पत्थर ,लाल पत्थर ,सीपी घोघा, हड्डी, हाथीदांत, सोना, चाँदी, पीतल, ताँबा, सीसा, आदि की[2] सहायता से ही विभिन्न वस्तुओं का निर्वाह करना सीख लिया था। सैंधव सभ्यता में हमें मिट्टी के बर्तन बनाने हेतु कुंभ कार बसता दिखाई देती है। ये कुंभकार नगरों के बाहर रहकर अपना पैसा करते रहे होंगे ताकि धूएँ तथा मिट्टी से वायुमंडल प्रदूषित न हो।[3] हमें सैंधव सभ्यता की खुदाई में कुंभ कारों के अनेक भट्टे मिले हैं।[4] यहाँ की खुदाई में मिट्टी की मुहरें, मुद्राएँ, मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं जिससे स्पष्ट है कि प्राचीन सैंधव सभ्यता के लोग मिट्टी के विभिन्न व्यावसायिक प्रयोग की कला से परिचित हो चुके थे। इसी प्रकार यहाँ के निवासी पाषाण प्रतिमा निर्माण में भी कौशल प्राप्त कर चुके थे। यहाँ के निवासी पाषाण को तराश कर सुन्दर प्रतिमा बनाने की कला से भलीभाँति परिचित थे। उत्खनन कर्ता मार्शल को पाषाण की दो प्रतिमाएँ प्राप्त हुई है।[5] इन प्रतिमाओं की उन्होंने प्रशंसा की है। सैंधव सभ्यता के लोग धातुओं को पीटना, गलाना, ढालना अच्छी तरह से जानते थे। हमें उत्खनन में धातुओं की विभिन्न प्रतिमाएँ तथा वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं जो इस बात द्योतक हैं कि सैंधव सभ्यता में धातु व्यवसाय भलीभाँति विकसित हो चुका था। स्पष्ट है कि सैंधव सभ्यता के लोग जीविकोपार्जन के लिए स्वयं के विकसित व्यवसायों पर निर्भर थे। यहाँ से विकसित कौशल ने ही भारत के विभिन्न कौशलों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। सैंधव सभ्यता नगरीय होने के कारण यहाँ के निवासी धातुओं को पीटकर, गलाकर उन्हें जीवनोपयोगी वस्तुओं में बदले में दक्ष थे। वे वस्तुओं को बाज़ार में पहुंचाकर तथा उनको बेचकर धन अर्जित करते थे।

सैंधव सभ्यता के साथ हमें एक वैदिक सभ्यता में भी व्यवसाय कौशल के अनेकों उदाहरण देखने को मिलतें हैं। ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत के लोग विभिन्न व्यवसायों में निपुण थे। स्थानीय स्तर पर मौजूद छोटे कल कारख़ाने तथा कुटीर उद्योग ऋग्वेदिक समाज की अर्थव्यवस्था के आधार थे। इस युग का समाज अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करता था। प्रत्येक गाँव आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी था। इस युग में व्यवसाय बंधन नहीं थे। इस युग के लोग अपने जीविकोपार्जन के लिए किसी भी व्यवसाय को अपना सकते थे। ऋग्वेद में चार वर्णों के अतिरिक्त कुछ व्यवसायों का भी उल्लेख प्राप्त होता है इन व्यवसायों में तक्ष, कर्मा, स्वर्णकार, जुलाहे, कुम्भकार इत्यादि थे। ऋग्वेद में रथों का सामरिक महत्व था[6] इस कारण तक्ष व्यवसाय की काफी प्रतिस्ठा रही होगी। कृषि व्यवसाय में भी तक्ष की भूमिका महत्वपूर्ण होती थी। ऋग्वेद की एक ऋचा मे कहा गया है कि हमारे कर्म विभिन्न प्रकार के हैं। बढ़ई काष्ठ की कामना करता है और वैद्य रोग की कामना करता है।[7] तक्ष रथ निर्माण के साथ साथ पोत निर्माण का भी कार्य करता था। ऋग्वेद की एक ऋचा मे सौ पतवार वाले पोतों का उल्लेख है।[8] धातु के लिए अयस शब्द का प्रयोग किया जाता था। वैदिक लोग धातुओं को पीटकर,गलाकर विविध वस्तुओं के निर्माण की कला मे दक्ष हो चुके थे। यद्यपि अयस शब्द के वास्तविक अर्थ के बारे में मतभेद हैं। कुछ विद्वान इसे काँसा,ताँबा , लोहा मानते हैं। हिरण्याकार नामक वर्ग सोने के आभूषण का निर्माण करता था।[9] संभवतः सोना भूमि के अतिरिक्त सिन्धु नदी से भी प्राप्त होता था। इसी कारण सिंधु नदी के हिरण्य वर्तनी अथवा हिरण्यमयी भी कहा गया है।[10] सोने के विभिन्न आभूषण जैसे निष्क ,कुरीर (माँग टीका), कुम्ब (सिर का आभूषण इत्यादि अंलकार बनाये जाते थे। समय के साथ साथ इन शिल्प तथा व्यवसायों का विकास होता गया। ऋग्वेद में वासोवाय नामक वर्ग

वस्त्र बुनने वाला होता था। वह करघे पर (वेग) वस्त्र बनने का कार्य करता था। बुनाई सीखने के लिए पाठशालाएँ होती थी जहाँ बुनाई की श्रेष्ठ शिक्षा दी जाती थी।[11] बाजसनेही संहिता से ज्ञात होता है कि उस समय धीवर, कैवर्त, तथा कृषि कर्म करने वाले लोग मौजूद थे। इस युग में रजक ,मणि कार ,रस्सी बनने वाले ,रथ कार ,धनुष कार ,लोहार ,सुनार ,कुम्हार, बनप (जंगलों की देखभाल करने वाले) मौजूद थे। कपड़े रखने वाली स्त्रीयों को रजयितरी कहा जाता था। क़सीदा व सुई का काम करने वाली कैटकीकारी कही जाती थी। बैंत की टोकरी बनाने वाली बिदलकारी कही जाती थी।[12] हमें यजुर्वेद में हिरण्य, अयस, श्याम, सीसा जैसी धातुओं का उल्लेख मिलता है जो स्पष्ट करता है कि प्राचीन भारत में व्यवसायिक शिक्षा उन्नति पर थी तथा विभिन्न व्यवसायों के लोग विभिन्न क्षेत्रों में कुशलता पूर्वक कार्य करते थे।

बहुत युग तक आते आते भारत में कई नगरों का विकास होने लगा। इस कारण नगरीय स्तर पर विभिन्न उद्योग धंधों का विकास हुआ। जीवन शिल्प उद्योगों में व्यक्ति विभिन्न श्रेणियों में संगठित थे। विभिन्न शिल्प उद्योगों के पृथक–पृथक संघ होते थे इनको श्रेणि या पूग कहते थे।[13] हमें जातकों से बौद्ध युग के विभिन्न शिल्पों की जानकारी मिलती है। जातक युग मे 18 प्रकार के शिल्पकार संग मौजूद थे। रीजडेविड ने बौद्ध क़ालीन शिल्पों का 18 भागों में वर्णन किया है। प्रत्येक शिल्प का पृथक संघ था। इस युग तक आते आते ही सभी महत्वपूर्ण शिल्प तथा व्यवसाय श्रेणियों में विभक्त हो चुके थे। इन श्रेणियों का एक अपना प्रमुख होता था। ये श्रेणीयां प्राचीन भारत की आर्थिक व्यवस्था की मेरुदंड हुआ करती थी। ये शिल्पी व्यवसायी पृथक–पृथक वीथिका में रह कर अपना काम करते थे। जिस वीथिका में जो व्यवसायी या शिल्पी रहते थे उस वीथिका को उसी नाम से पुकारा जाता था।

भगवान बुद्ध ने शिल्प के उत्तम मंगल माना है।[14] इस युग में हमें बढ़ई, स्वर्णकार, नाई, मालाकार, कुंभकार, चित्रकार, तेली, कसेरा, ग्वाला, टोकरी बनाने वाला, गंधकार, बढ़ई, जैसे शिल्पी नज़र आते हैं। इनके अतिरिक्त हमें अनेकों अन्य व्यवसाय तथा शिल्पकारों की जानकारी प्राप्त होती है जो अपने हुनर के माध्यम से अपना जीविकोपार्जन करते थे। इनमें निम्न का उल्लेख जातकों में मिलता है।[15] अंगारिका (कोयला बनाने वाले), आरामिका (माली), अजपाल (बकरी पालक),अश्वगोपक (सईस), अहिगुणडको (सँपेरे), आचारियस (आचार्य), आलारिका (रसोइया), उद्यानपाल, उसुकारो (बाण बनाने वाले), भेड़ चराने वाले, कप्पको (नाई), कट्टहारक, (लकड़हारा), कस्सक (कृषक) ,कुम्भकार, कुम्भथूनियो (घड़े बजाने वाले), केवट, खड्गहतया (खड्ग धारी), खेतपाल (खेत की रखवाली करने वाले), गायक, गोपालगंज, गणिका, गंधर्व, गन्धिक (इत्र व्यापारी), घटिकार (घड़े बनाने वाले), घातक (जल्लाद), चित्रकार, चार्मकार, घसियारे, तेलय, चिकित्सक ,जुलाहे, दन्तकार, वस्त्र बेचने वाले, दंत कथथक (मुखोदक तथा दातून आदि लाने वाले), झाइयाँ, धनुषधारी, निषाद, ज्योतिषी, नाविक, नृतक, नट, नाटक करने वाले, नटी, नृत्यकार, नाव निर्देशक,नलकार (बेंत व नाँव का काम करने वाले) परिचारिका ,पशुपालक ,पोतथकार, पत्थर तराशने वाले ज़ौहरी ,कहार तरकारी बेचने वाले, भोजन बनाने वाले, ताली बजाकर गाने वाले, बहुभाणडिक, भेरी वादक, भिश्ती ,रसोइए ,मणिकार ,मल्ल ,मालाबार, मुष्टि से लड़ने वाले पहलवान, मायाकार, मार्गदर्शक ,महाचोरो, रजक, रथकार, शिकारी, बाज़ीगर, कूदनेवाले, नमक बनाने वाले, ढाल तलवार धारी, द्वारपाल, वैद्य, व्यापारी, वैश्या ,जंगल में काम करने वाले ,जादूगर, व्यास, बढ़ई, वनचर, सूद, शरीरदाहापि, चिड़ीमार, श्रेष्ठी (महा धनवान सेठ), गाड़ीवान शंख बजाने वाली सारथी , विदूषक ,सुनार ,सर्राफ़, सत्थवाह इत्यादि। ये सभी भारत की प्राचीन कला तथा व्यवसाय थे। ये सभी अपने अपने विषयों में दक्ष थे तथा अपने अपने समूह में रहते थे। इन पर राज्य का नियंत्रण नहीं था। इनमें से बहुत से व्यवसाय ऐसे थे जो कि घुमक्कड़ थे तथा भारत के विभिन्न स्थानों पर जाकर अपना जीव को उपार्जन करते थे किन्तु देश की अर्थव्यवस्था में इनका भी महत्वपूर्ण योगदान था। इनमें से अधिकांश व्यवसाय पैतृक होती थे परंतु व्यक्ति को व्यावसायिक चुनने की स्वतंत्रता थी। भारत के इन शिल्पी तथा व्यवसायियों को किसी भी प्रकार की राजकीय सहायता की आवश्यकता नहीं थीं। ये पूरी तरह स्वावलंबी थे ।

ऐतिहासिक साहित्य से ज्ञात होता है कि बौद्ध युग तक भारत में पर्याप्त शिल्प कौशल का विकास हो चुका था। ये शिल्पी तथा व्यवसायी किसी साम्राज्य के अधीन नहीं थे। ये स्वतंत्रत व्यवसायी थे।नगरों के विकास के कारण बाज़ार व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी इन बाज़ारों मे शिल्पियों द्वारा तैयार किया माल आसानी से बिक जाता था। बाज़ार व्यवस्था ने शिल्पियों की वस्तुओं के लिये माँग पैदा की। माँग बढ़ने से शिल्पी तथा व्यवसायियों ने अपने उत्पादन को बढ़ाया ।इस कारण उनमें सम्पन्नता पैदा हुई और उनकी सुख समृद्धि का मार्ग प्रशस्त हुआ। अब वे पहले की तुलना में अधिक सुखमय जीवन व्यतीत कर सकते थे। इस युग मे जल–थल व्यापारिक मार्गों का विकास होने से स्वदेशी वस्तुएँ तेज़ी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक आसानी से पहुँचने लगी थी ।

प्राचीन भारत के इतिहास में हमे मौर्य, गुप्त तथा अनेकों साम्राज्य देखने को मिलतें हैं। इन साम्राज्यों में समाज तथा अर्थव्यवस्था सरकार पर अवलंबित नज़र नहीं आती। यहाँ की शिक्षा व्यवस्था के दो रूप थे। धार्मिक व आध्यात्मिक विषयों की शिक्षा के केंद्र आश्रम व गुरूकुल होते थे। ये ज्ञान के केंद्र थे। शिल्प व व्यवसायों की शिक्षा परंपरागत थी। व्यक्ति आसानी से अपने पैतृक व्यवसाय में दक्ष हो सकता था। राज्य का काम रोज़गार प्रदान करना बिलकुल नहीं था। राज्य के संरक्षण में वहाँ मौजूद शिल्प तथा व्यवसाय अपने को सुरक्षित महसूस करते थे। यहाँ की सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार की थी कि परिवार का सदस्य व्यस्क होने तक अपने अपने व्यवसाय में दक्षता प्राप्त कर लेता था। भारतीय कौशल व्यवसाय पूर्णतः व्यवहारिक था। इस कौशल को प्राप्त करने में किसी प्रकार का व्यय नहीं करना होता था। स्वरोज़गार पर आधारित पारंपरिक गृह कौशल के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था काफ़ी मज़बूत थी।

प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यक्ति को ज्ञानवान ,सामर्थ वान,चरित्र वान बनाने में सक्षम थी। हमारी शिक्षा मात्र किताबी नहीं थीं वह रोज़गारपरक भी थी। वर्तमान शिक्षा प्रणाली रोज़गारपरक नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को सरकारी रोज़गार दे पाना संभव नहीं होता। ऐसी स्थिति में अगर हम प्राचीन शिक्षा व्यवस्था में मौजूद परम्परागत शिल्प कौशल को प्रारंभिक शिक्षा का भाग बनाकर उसे विकसित करें तो सरकारी नौकरियों पर दबाव कम होगा। भारत में आज भी ऐसे अनेक व्यवसाय व कौशल हैं जो पूरी तरह परम्परागत हैं। इन परम्परागत व्यवसाय तथा कौशलो मे आज भी दक्ष लोग मौजूद हैं। आज आवश्यकता इस बात की है की परम्परागत उद्योग,शिल्प, कौशल को पूरी तरह ख़त्म होने से पहले उन्हें बचाया जाए। अनेकों परम्परागत कौशल वाले परिवार अपना परम्परागत व्यवसाय तथा शिल्प छोड़ रहें हैं । कई शिल्प परम्पराएँ नष्ट होने के कगार पर हैं। ऐसी स्थिति में हमें ऐसे परम्परागत उद्योगों का पता लगाकर उन्हें पुनर्जीवित करना होगा तथा उन व्यवसायिक तथा शिल्पों को शिक्षा से जोड़ना होगा। ऐसा करके हम समाज के बहुत बड़े वर्ग को प्रारंभ से ही स्वावलंबी तथा सम्पन्न बना सकते हैं। आवश्यकता सिर्फ़ इस बात की है कि हमारा समाज किसी भी व्यवसाय को छोटा या बड़ा ना माने। शिक्षा नीति में बदलाव कर की हम इस लक्ष्य को आसानी से प्राप्त कर सकते हैं।

***व्याख्याता**
इतिहास विभाग
शहीद कैप्टन रिपुदमन सिंह
राजकीय महाविद्यालय, सवाई माधोपुर (राज.)

संदर्भ ग्रंथ

1. प्राचीन भारत का राजनीतिक सांस्कृतिक इतिहास, वि.सी.पांडे, सेंट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, भाग–1 पृष्ठ 59

2. वहीं, पृष्ठ 59
3. वहीं, पृष्ठ 59
4. वही, पृष्ठ 59
5. वही, पृष्ठ 59
6. प्राचीन भारत का इतिहास व संस्कृति, के. सी. श्रीवास्तव, यूनाइटेड बुक डिपो,इलाहाबाद, 2014–15,पृष्ठ 91
7. प्राचीन भारत, पी. एल. गौतम,कमलेश शर्मा, जैन प्रकाश मंदिर, जयपुर, 2002–3,पृष्ठ 193
8. ऋग्वेद 10/143/5
9. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, जयशंकर मिश्र, हिन्दी माध्यम के कार्यान्वयन निदेशालय ,नई दिल्ली, 1992, पृष्ठ 605
10. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास जयशंकर मिश्र, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय ,नई दिल्ली, पृष्ठ 605
11. वही, पृष्ठ 605
12. वही, पृष्ठ 607
13. जातक, अनुवाद हिन्दी, जिल्द 6, पृष्ठ 468.
14. पालि जातक एक सांस्कृतिक अध्ययन,डॉ.कृष्णा कुमारी श्रीवास्तव, सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, 1984, पृष्ठ 27
15. पालि जातक एक सांस्कृतिक अध्ययन, वही, पृष्ठ 278–285.